



तुलनात्मकता के निकष पर 'रह गई दिशाएँ इसी पार' व 'गायब होता देश'

शिवम सिंह

शोध छात्र, (हिन्दी), क्षेत्रीय केन्द्र, इलाहाबाद, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र, भारत।

प्रस्तावना

सामान्य अर्थ में, तुलनात्मक साहित्य (कंपरेटिव लिटरेचर) के अन्तर्गत परस्पर दो भाषाओं में रचित साहित्य के दो विशेष काल खण्डों प्रवृत्तियों, रचनाओं, रचनाकारों विधाओं, शैलियों व रूपों को लेकर उसमें निहित समानताओं व असमानताओं का परीक्षित किया जाता है। इसमें एक भाषा के साहित्य के अध्ययन क्रम में सयास या अनायास किसी दूसरी भाषा में रचित साहित्य का उद्धरण देते हुए अथवा उसको सामने रखकर निष्कर्ष तक पहुँचा जाता है। किन्तु, विशिष्ट अर्थ में केवल एक ही भाषा में विरचित साहित्य के दो खास बिन्दुओं या सन्दर्भों का तुलनात्मक रूप से समीक्षा की जाती है। जैसे— सजीव और रणेन्द्र की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन।

तुलनात्मक समीक्षा प्रविधि के चार प्रमुख सोपान— समानता, असमानता, तदरूपता तथा व्यतिरेकता वस्तुनिष्ठ रूप से स्वीकार्य हैं। किन्तु, इनको भी यदि व्यापकता में व्यवहृत किया जाय तो तदरूपता में जहाँ समानता का भाव ज्यादा निहित होता है, वहीं व्यतिरेकता असमानता के सन्निकट होती है। प्रस्तुत कृतियों 'संजीव की 'रह गई दिशाएँ इसी पार' व रणेन्द्र की 'गायब होता देश' को 'विशिष्ट अर्थ' की दृष्टि से विचार के साथ ही इनमें उपस्थित समताओं की तरफ मुख्यतः ध्यान संकेन्द्रित किया जायेगा।

यद्यपि दोनों उपन्यासों में कथानकगत विभेद हैं, 'रह गई दिशाएँ इसी पार' जीव विज्ञान की आधार भूमि पर लिखा गया है। जिसमें जैव प्रौद्योगिकी, जेनेटिक इंजीनियरिंग तथा वृत्त कोशिका (स्टेम सेल) आदि चिकित्सा विज्ञान की जनहितैषी खोजें, अमीरों के हाथ पड़ जाने पर इनकी सार्थकता, अर्थवत्ता जाती रहती है, यह उद्घाटित किया गया है। वहीं, 'गायब होता देश' मुण्डा आदिवासियों की पारिस्थितिकी को बतलाता हुआ राष्ट्रीय, बहुराष्ट्रीय निगमों की मारक क्षमता तथा उसकी तहेदारी को रेखांकित करता है।

तथापि, इन कृतियों का भाष्य करने पर ये एक दूसरे की पूरक नजर आती हैं। पूरकता इस अर्थ में कि इनमें व्यक्त विचार व सरोकार अंतिम जन के प्रबल पैरोकार हैं। अर्थात् कथ्य के स्तर पर इनमें कई समानताएँ परिलक्षित होती हैं—

इन उपन्यासों की भावभूमि एक है, चोट करने का बिन्दु भी एक ही है। ये सीधे 'सिस्टम' पर निशाना साधते हैं कि किस तरह लोकतन्त्र का जामा पहने पूंजीवादी व्यवस्था कितने सूक्ष्म और सख्त हथियारों का प्रयोग करती है। प्रभु वर्ग के व्यापारी, माफिया तथा नेता का चरित्र एक होता है, वह है बहला कर, फुसला कर, बरगला कर, शास्त्र और शस्त्र का प्रयोग कर, आम आदमी के हितों का अपने हित के लिए प्रयोग करना और परिधि के समाज को और बाहर धकेलना। इन उपन्यासों में व्यंजित हुआ है कि ऊपर से भिन्न होते हुए भी कार्य पालक और व्यवस्थापक एक है तथा न्यायपालक

निरंकुश।

'रह गई दिशाएँ इसी पार' और 'गायब होता देश' दोनों उपन्यास जो सवाल खड़ा करते हैं पद्धति अलग होने के बावजूद भी उनकी प्रकृति एक सी है जिसका उत्तर फिलवक्त किसी के पास नहीं है या फिर तथाकथित सभ्य समाज हकलाहट भरे जवाब के साथ कंधे उचकाते हुए आगे बढ़ जाता है। संजीव के उपन्यास का प्रमुख पात्र 'जिम' अपनी नानी के गर्भ से पैदा एक सरोगेट चाइल्ड है, अब वह अपनी माँ 'एलिस' का क्या होगा बेटा या भाई? कुछ इसी लहजे में रणेन्द्र भी यह प्रश्न पूछते हैं कि "अगर लुटियन दिल्ली के नीचे कोयला निकल आए, इलाहाबाद सिविल लाइन्स के नीचे बाक्साइट, यूरेनियम, चण्डीगढ़ के नीचे, आयरन ओर लखनऊ, चेन्नई, बंगलुरु के नीचे तो उजाड़ेंगे क्या लोग उसे?"¹

समस्याएँ अपने स्वरूप में भिन्न होते हुए भी दोनों उपन्यासों में कमोवेश एक सी हैं। ये समस्याएँ आधुनिक विकास की कोख से जन्मी है, जिनका समाधान हमारे वर्तमान के पास नहीं है। ये ज्ञान—विज्ञान के अविष्कार, ये प्रौद्योगिकी की नित्य नूतन खोजें ये सब किसके लिये? "हमारे धान के खेतों को रौंदकर हमारे सरनामसान को गिराकर कारखाना बन गया। लेकिन बीस—पच्चीस साल बीतते थरभसा कर बैठ गया। का मिला नेहरू बाबा को सैकड़ों एकड़ धनहर खेत उजाड़ कर, सैकड़ों किसान परिवार को मजूर— भिखमंगा बनाकर?"² इस तरह के कथन इंगित करते हैं कि आखिर जो ये, प्रगति की रैट रेस चल रही है, जो विकासवादी विचार मॉडल अपनाया जा रहा है, शोध संस्थाओं में करोड़ों रुपये फूँके जा रहे हैं, जो कारखाने स्थापित हो रहे हैं इनका हासिल क्या है सिवाय हाशिये और उसके बाहर के तबकों के लिए विनाशवादी उपक्रम के।

दोनों कृतियों के सन्दर्भ में थोड़ी सी चर्चा समकालीन पूंजीवाद की या उत्तर पूंजीवाद की, किस प्रकार आज का पूंजीवाद विश्व बन्धुत्व के आवरण में राजनीति को, ज्ञान—विज्ञान को तथा जीवन को सुगम बनाने वाले सभी कारकों को अपने कब्जे में ले लेता है और उससे निर्गत बहुराष्ट्रीय कंपनियां सारे सम्बन्धों को क्रेता—विक्रेता में तब्दील कर सारी व्यवस्था को अपने पक्ष में खड़ी कर लेती हैं। इस प्रक्रिया में किस प्रकार की 'कंडिशनिंग' होती है, इसकी बानगी इसमें व्यक्त हुई है। "ये पैसे वाले ज्ञान—विज्ञान की सारी बौद्धिक संपदा को हथिया लेना चाहते हैं अब तक सुनता ही आया था, आज प्रत्यक्ष हो गया।"³

पूंजीवादी की एक अन्यतम विशेषता है सर्व विक्रय की वह भी इनमें दिखाई देती है। "माछ ले लो माछ! टटका माछ; माँस लेना है माँस। किस जीव का माँस? आदमी तक का माँस हमारे पास है। बोलो क्या चाहिये।"⁴ पूंजीवाद किस प्रकार रेवड़ी फेंक कर अपने चमकीले उत्पाद बाँट कर उसकी ब्रांडिंग कर जनता को अपने स्वार्थ सिद्धि के तौर पर प्रयोग करता है। इन सबका पर्दाफाश

रणेन्द्र ने किया है “अब मोबाइल और टीवी सेट, डीवीडी के साथ बाँटा जा रहा है। देहाती इलाके में छोटा वाला जनरेटर भी। फियरनेस क्रीम, शैम्पू पाउच, कैंटकी फ्राइड चिकन और बोटल बन्द पानी।”⁵

पूँजीवाद लोकतंत्र के चौथे स्तम्भ को पंगु बनाता है या यूँ कहें कि विज्ञापन के चलते मीडिया स्वयं ही बड़े औद्योगिक घरानों की पुरोहिताई करने लगता है और उनकी छवि मेनटेन करता हुआ उनकी हित पूर्ति का माध्यम बनने के साथ ही उनकी जुबान भी बोलने लगता है। संजीव ने दिखाया कि किस प्रकार संक्रामक रोग फैले अन्यत्र लेकिन मीडिया अपने यहाँ लोगों के मुँह पर मास्क बँधवा देता है, बकायदा चलताऊ बद्धिजीवियों की परिचर्चा के साथ। रणेन्द्र के यहाँ इससे एक और कदम आगे बढ़ते हुए बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने भू-माफियाओं ने, अपने काम को अंजाम देते हुए सूचना क्रांति के जरिये बड़े-बड़े समाचार चैनल भी खोल लिये हैं। जैसे परिवर्तन, पलाश, जय, किशनपुर चैनल।

दोनों कथाएँ बहुस्तरीयता के साथ-साथ अपने फैलाव में अखिल भारतीय है। ‘रह गई दिशाएँ’ इसी पार की कथा पश्चिम बंगाल के सुन्दरवन से होते हुए तमिलनाडू और आंध्र प्रदेश के मत्स्य उद्योगों से जुड़ती हुयी केरल के समुद्रतट तक पहुंचती है और बताती है कि किस प्रकार पूँजी द्वारा बौद्धिक सम्पदा को हड़पना, विज्ञान द्वारा अजर-अमर होने की चाह, गरीब, लाचार लोगों को जीवित नर कंकाल में बदलना और अपनी हवस के लिए प्रकृति का दिन-रात दोहन, धर्म और अस्थाओं के नाम पर शोषण की प्रक्रिया जारी है। वहीं दूसरी ओर की कथा भूमि भले झारखण्ड के आदिवासियों की हो लेकिन सरकार की अधिग्रहण नीति से न तो केरल का किसान अछूता है, न सिंगूर, गुजरात और भट्टा परसौल का। सब जगह के किसान समझते हैं यह अधिग्रहण नीति किसके लिए है। फिर भी, वे विरोध करते हुए अपना जल, जंगल जमीन छोड़ते हुए विस्थापन के साथ विकास के इस विनाशवादी मॉडल में अभिशप्त हैं।

स्त्री दृष्टि से भी ये उपन्यास सशक्त है। इनमें स्त्रियाँ प्रतिरोधी ओर जुझारू चरित्र के रूप में रूपायित हैं। संजीव की स्त्री पात्र ‘बेल्ली’ हो या गायब होता देश की ‘अनुजा पाहन’ एवं ‘सोनामनी’। ये स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक समाज से, भूमण्डलीकरण के दैत्य से दो-दो हाथ करती दिखाई देती है। रह गई दिशाएँ इसी पार में बेलला का चित्रांकन दृष्टव्य है— “बेलला जहाँ भी जाती, शोलों के बीज बोती चलती।”⁶ “सिर्फ गुस्से के दम पर इस अन्याय का खात्मा नहीं किया जा सकता। हमें मुक्ति चाहिए। मुक्ति चाहिए इस दरिद्रता से, बेबसी से, हर घड़ी मुँह बायें चली आ रही असुरक्षा से, मुक्ति चाहिए इन महाजनों की कृपा से, इन बिचौलियों से, दलालों से। यह मुक्ति कौन देगा...? कोई नहीं। हमें खुद आगे बढ़कर इसे हासिल करना है।”⁷ बेलला मत्स्य उद्योग की पूरी कड़ी को, वैश्विकता के आसन्न खतरों को बखूबी समझती और जानती है कि यह किस तरह से हमारे जीवन के, प्रकृति के संसाधनों को कब्जियाँ लेंगे। अतः वह सावधान करते हुए कहती हैं “समुद्र में क्या प्रमाण है कि कौन कहाँ आया। इसलिये प्रतिरोध, पूँजी और विकल्प तीनों चाहिए इसलिये एकता चाहिए, सहकारिता चाहिए। जिस तरह पूरे देश के जंगल, पहाड़ नदी और जमीन और सम्पदा को छीनकर बेचा जा रहा है, उसी तरह हमारे आठ हजार किलोमीटर सागर तट के अधिकार को हमसे छीनकर बड़ी कम्पनियों को बँच दिया जायेगा। अब भी वक्त है आप चेत जाइए।”⁸

वहीं रणेन्द्र ने तो एक खास शब्द पुरुषार्थ के समानार्थी ‘स्त्रीर्थ’ का प्रयोग ही किया है। इनके यहाँ स्त्री शक्ति स्वरूपा है “शेर का शिकार शेर की माँद में... मतलब। स्त्री ही धर्म को बचाएगी... जाति को बचाएगी... कौन स्त्री? कैसे बचाएगी...?”⁹ यहाँ सोनामनी भी

बेलला की भाँति संगठित होकर जल, जंगल, जमीन, पहाड़, नदियों, झरनों, पर्वत त्योंहारों के लिए आन्दोलन की अगुवाई करती है। वहीं अनुजा पाहन जिसका रंग ही बैगनी है उसका अलग ही तेवर है। किस तरह रणेन्द्र ने इसको चित्रित किया है— “बहरहाल न किसी ने चमचमाती धारियाँ देखीं, न सशक्त पंजों की बिजली सी चमक देखी। जिस शैतानों ने देखी तो बताने के लिये अपनी सांसे नहीं बचा सके।”¹⁰

यहाँ स्त्री सौन्दर्य भी, स्त्री चरित्रों की भाँति एक नये रूप में गढ़ा गया है। यह सौन्दर्य नाजुक नहीं, बल्कि कर्मठ है और श्रम संस्कृति से अनुप्राणित है उसका अपना अलग तेवर है— “अजय ने कसी हुयी साड़ी में उस सांवली लड़की का तेज देखा तो देखते ही रह गया...। लहरों के सामने ऊपर नीचे हो रही थीं उसकी डोंगी जिसकी बिसात वैसे भी इस विशाल ट्रालर के सामने कुछ भी न थी, पर वह जिस निडर भाव से तर्क वितर्क किए जा रही थी वह उसे हैरत में डाल रहा था।”¹¹

वहीं ‘गायब होता देश’ में रणेन्द्र ने स्त्री सौन्दर्य को हिन्दी कथा साहित्य में एकदम नये रूप में निरूपित किया है “लेकिन वह साँवली बदरी इनसे बेखबर थी। इन तितलियों की परवाजी से शायद इन तितलियों से भी... बस, वह अपने में ही डूबी आबदार बदरी थी।”¹² रचनाकार ने साँवली और बैजनी रंग का दिलचस्प वर्णन करते हुए सायास इसके माध्यम से जो बजार और विज्ञापन स्त्रियों को गौरा बनाने के लिए तरह-तरह के सौन्दर्य प्रसाधन प्रचलित किया है, उनको भी चुनौती देता है।

इन रचनाओं में एक खास साम्यता है ‘अस्तित्व’ शब्द को लेकर। दोनों उपन्यासों में कोई उभयनिष्ठ ‘शब्द’ ढूँढा जाए तो वह शब्द ‘अस्तित्व’ होगा। संजीव के यहाँ अस्तित्व शब्द बहुफलकीय है। ज्ञान, विज्ञान, पूँजी की सारी विसंगतियाँ, खुरापेंच, रिश्ते-रंग की शब्दावली का गड़बड़ाना सब इसी अस्तित्व शब्द से व्याख्यायित होता है। यहाँ अस्तित्व वैयक्तिक न होकर सामूहिक है। यहाँ प्रयोगशाला में अस्तित्व बनाया जाता है, मिटाया जाता है उसमें छेड़-छाड़ की जाती है और पूरे मानव जाति का अस्तित्व को ही कैद कराने की कोशिश की जाती है। रणेन्द्र के यहाँ अस्तित्व की समस्या कमोवेश ऐसी ही है। वहाँ सीधा संकट वजूद पर है और उसी को बचाने की जद्दोजहद रणेन्द्र के पात्र अपने तरीके से करते हैं, क्योंकि वहाँ ग्लोबल गाँव के देवता उन आदिवासियों के वजूद को पूरा निगल जाने को आतुर रहते हैं। वस्तुतः मुंडा आदिवासियों की व्यथा-कथा, लोक विश्वास के बहाने रणेन्द्र ने अस्तित्व विमर्श ही किया है “इतिहास के पन्ने आपस में मेसा फेटा गये थे, लग ही नहीं रहा था कि 2000 ईस्वी में हों।... 1832 ईस्वी, 1900 ईस्वी और 2000 ईस्वी आपस में गले मिल रहे थे।... गोलियाँ चल रही थी, जिंदा, हँसते गाते इंसान शहीद हुए जा रहे थे।”¹³

कथा की रोचकता को बढ़ाने के लिये दोनों उपन्यासों में मिथकों का उपयोग किया गया है। खास बात यह है कि ये मिथक वैज्ञानिक और ऐतिहासिक हैं। “मदर टेस्ट ट्यूट बेबी (महाभारत में कौरवों के जन्म की तकनीक) ऑक्सीटॉक्सिन इंजेक्शन से रातो रात यौवन (देव मलाई का यूनानी मिथक), कोशिकाओं का आपसी संवाद संप्रेषण (अर्जुन द्वारा बताई चक्रव्यूह तोड़ने की युक्ति का गर्भस्थ अभिमन्यु को ज्ञान) मादा रूप में जन्मी रासेस मछलियों का वयस्क नर में कार्यांतरण (इला-इला का मिथक) कामोद्दीपक रसायन के इंजेक्शन से कामासक्त चूहे का मैथुनापरांत, चुहिया से अनासक्ति (दुष्यन्त शकुन्तला की कथा आदि)”¹⁴ इसी प्रकार के मिथक का प्रयोग रणेन्द्र ‘लेमुरियन’ द्वीप के सम्बन्ध किया है। “कहते हैं कि इन ऊर्जा केन्द्रों पर पैरों के पास धरती और सिर के ऊपर के ये तारों के बीच एक स्पष्ट सम्बन्धों का अहसास होता है।

.. तो धरती के एनर्जी सेंटर्स को, ससनददिसरी से गुजरती सूर्य किरणों की विशेष ऊर्जा को, मुंडा लोगों की कोशिकाओं में छुपे ज्ञान पूंजों को, हीरों में क्रिस्टलाइज़ किए हुए इल्म को, सबको सच मान लिया जाए?"¹⁵

इन उपन्यासों में एक बड़ी बात है अख्यान के स्तर पर 'कथा और कविता' का संयोग। दोनों उपन्यासों में कई काव्य पंक्तियाँ अटी पड़ी हैं। संजीव ने तो अपने कई अध्याय के शीर्षक, यहाँ तक कि उपन्यास का नाम भी कविता की एक पंक्ति से लिया है। जैसे 'माया मरी न मन मरा', 'मर मर गया शरीर', 'न कछु मेरा', 'न कछु तेरा', 'गंगा आये कहाँ से गंगा जाये कहाँ से', 'वहाँ कौन है तेरा', 'ये न थी मेरी किस्मत', 'करे कोई भरे कोई' जैसी लोकोक्ति का भी प्रयोग किया है। वहीं रणेन्द्र ने तो अपने सारे अध्यायों की शुरुआत ही लोक गीतों से लेकर दिनेश कुमार शुक्ल, फेज़, रेणु, नागार्जुन, दिनेश शुक्ल आदि की काव्य पंक्तियों से जो गतिमान यथार्थ को व्यक्त करने में सहायक हो, शुरुआत की हो अर्थात् उपन्यास में कविता सी संवेदना जागृत होती है।

शिल्प की एक अन्यतर विशेषता है, भाषायी लोकतन्त्र की। उपन्यासों के सारे पात्र, भाषायी बहुवचन का प्रयोग करते हैं। इन उपन्यासों में जिस भाषा का बर्ताव हुआ है, वह एक दम नई है। संजीव के पात्र अलग-अलग भाषाएँ बोलते हैं। जैसे- डॉ० जैक्सन हिंदी, अंग्रेजी मिश्रित 'हिंगलिश' बोलते हैं तो आरिफ बेग शेरों शायरी में बात करते हैं। संजीव जिस क्षेत्र विशेष (अवध) से सम्बन्ध रखते हैं कि वहाँ कि लोक बोली तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है- "का पर करु सिंगार बालम मोर आन्हर।"¹⁶

रणेन्द्र की भी भाषा काफी चुस्त और पैनापन लिये हुये जैसे "सिस्टम की कंडिशनिंग का गजब की होती है।"¹⁷ लेखक हिन्दी भाषी होते हुए भी झारखण्ड की स्थानीय भाषा के साथ-साथ मुण्डारी, नागपुरी, कुड़ूख आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। या यूँ कहें उपन्यास की पूरी भाषा भोजपुरिया टोन लिए हुये हैं- "काहे भाई! दसे साल में सीन कैसे बदल गया रे भइवा? अभी तो ढंग से नहरें में पानी आना शुरू हुआ है।"¹⁸

समवेत ख्यात आलोचक पृणय कृष्ण की 'समकालीन जनमत' (जुलाई 2014, पृ० 39) में प्रकाशित यह टिप्पणी- "21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में संजीव की 'रह गई दिशाएँ' इसी पार के बाद 'गायब होता देश' ही उत्तर पूँजी के इस युग में कार्पोरेट मुनाफे के तन्त्र द्वारा विज्ञान के सर्वातिशायी अपराधीकरण की परिघटना को सामने लाता है। सोमेश्वर मुंडा अपने पुरखों के इतिहास और ज्ञान विज्ञान की लुप्त विरासत के पुनराविष्कार के क्रम में जो वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं उन्हें चुराकर रोजालिन मिल और उससे हथियाकर जेम्स मिल उन्हें आदिवासियों के संहार की कीमत पर अमीरों के अमरत्व की तकनीकि में बदलने की कोशिश करता है, वह इस 'नालेज सोसायटी' में ज्ञान की अमानुषिक लूट और विज्ञान के अपराधीकरण का अद्भूत किस्सा है। इस युग में सफल और बलशाली लुटेरों की शाश्वत अपराजेयता और अमरत्व के साधन के रूप में विज्ञान की नई दिशा का उद्घाटन उपरोक्त दोनों उपन्यासों को बाकी सबसे एकदम ही विशिष्ट बनाता है।"

संदर्भ

1. रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स गुडगाँव हरियाणा, भारत 2014, पृ०सं० 263
2. वही, पृ०सं० 104
3. संजीव, रह गई दिशाएँ इसी पार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ०सं० 118
4. वही, पृ०सं० 302

5. रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, गुडगाँव, हरियाणा भारत, 2014, पृ०सं० 260
6. संजीव, रह गई दिशाएँ इसी पार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ०सं० 194
7. वही, पृ०सं० 195
8. वही, पृ०सं० 196
9. रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, गुडगाँव, हरियाणा, भारत, 2014, पृ०सं० 52
10. वही, पृ०सं० 22
11. संजीव, रह गई दिशाएँ इसी पार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ०सं० 76
12. रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, गुडगाँव, हरियाणा, भारत 2014, पृ०सं० 22
13. वही, पृ०सं० 163
14. राकेश कुमार सिंह, लेख, 'भारतीय हिन्दी उपन्यास' की सबसे बड़ी छलांग, 'कथाक्रम' अप्रैल-जून 2012, पृ०सं० 104
15. रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, गुडगाँव, हरियाणा, भारत 2014, पृ०सं० 134-35
16. संजीव, रह गई दिशाएँ इसी पार, नई दिल्ली 2012, पृ०सं० 69
17. रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स, गुडगाँव, हरियाणा, भारत 2014, पृ०सं० 11
18. वही, पृ०सं० 226